International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 17-12-2025, Accepted: 16-01-2026, Published: 31-01-2026
Volume 12, Issue 1, 2026, Page No. 55-59

परंपरा एवं आधुनिकता के संधिकाल में संन्यास: काशी की रामानंदी वैष्णव परंपरा पर समाजशास्त्रीय दृष्टि

विशाल प्रताप मित्र
हिंदी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश भारत

सारांश
प्रस्तुत लेख काशी में विद्यमान रामानंदी वैष्णव परंपरा के अंतर्गत संन्यासी जीवन के बदलते स्वरूप का विश्लेषण का प्रयत्न है जो उसे लोकधर्म, शहरी परिवर्तन एवं समकालीन धार्मिक अर्थव्यवस्था के अंतर्संबंधों में स्थित करता है। ऐतिहासिक रूप से रामानंदी संन्यास परंपरा नैतिक अनुशासन, समावेशन के साथ–साथ जनभाषा आधारित भक्ति पर टिका रहा है जहाँ साधु लोकजीवन से जुड़े रहते हुए धार्मिक मार्गदर्शन की भूमिका निभाते थे लेकिन काशी में तीव्र शहरीकरण, धार्मिक पर्यटन के विस्तार तथा पवित्र स्थलों के बाज़ारीकरण ने इस परंपरा के भीतर नए प्रकार के तनाव एवं अनुकूलन की स्थितियाँ उत्पन्न की हैं। समाजशास्त्रीय सिद्धांतों यथा संन्यास की नैतिक सत्ता, परंपरा–आधुनिकता के अंतर्संबंध तथा सांस्कृतिक स्मृति आदि के आलोक में यह अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि रामानंदी साधु किस प्रकार तपस्या, धार्मिकता, लोकधर्म एवं संस्थागत संरचना तथा आध्यात्मिक प्रामाणिकता और बाज़ार–तर्क के बीच संतुलन साधते हैं। द्वितीयक साहित्य के विश्लेषण के साथ–साथ काशी पर केंद्रित समकालीन क्षेत्रीय समाजशास्त्रीय अध्ययनों के आधार पर यह लेख घाटों, अनुष्ठानों एवं सार्वजनिक धार्मिक प्रदर्शनों को सांस्कृतिक स्मृति के ऐसे स्थलों के रूप में देखता है जहाँ परंपरा निरंतर वर्तमान में पुनरुत्पादित होती रहती है। इस आलेख का निष्कर्ष यह दर्शाता है कि ये परिवर्तन संन्यास के क्षय का संकेत नहीं हैं अपितु एक ऐसी चयनात्मक अनुकूलन प्रक्रिया को प्रकट करते हैं जिसके माध्यम से रामानंदी परंपरा अपनी ऐतिहासिक निरंतरता बनाए रखते हुए शहरी धार्मिक अर्थव्यवस्था की चुनौतियों का सामना करती है। इस प्रकार लेख संन्यास को सामाजिक जीवन से पलायन की बजाए बदलते शहरी संदर्भों में पुनर्परिभाषित होती एक जीवंत सामाजिक–नैतिक प्रथा के रूप में पुनर्विचार करने का प्रस्ताव रखता है।

मूल शब्दः रामानंदी वैष्णव परंपरा, काशी, संन्यास, लोकधर्म, शहरीकरण, धार्मिक अर्थव्यवस्था, सांस्कृतिक स्मृति, धार्मिक पर्यटन, संस्थानीकरण, समकालीन हिंदू धर्म

परिचय

काशी भारतीय धार्मिक–सांस्कृतिक परंपरा में एक तीर्थ नगर मात्र नहीं अपितु तपस्या, संन्यास और सांस्कृतिक स्मृति का ऐसा जीवंत केंद्र है जहाँ समय की परतें एक–दूसरे में घुलकर दैनिक जीवन का हिस्सा बन जाती हैं; यहाँ संन्यास किसी एकांत साधना तक सीमित न रहकर सामाजिक नैतिकता, लोकविश्वास तथा सामूहिक स्मृति का संवाहक बन जाता है (Weber, 1978; Assmann, 2011)। इसी व्यापक परिदृश्य में रामानंदी वैष्णव परंपरा काशी की धार्मिक बनावट में एक विशिष्ट लोक–धार्मिक धारा के रूप में उभरती है जो भक्ति, समावेशन के साथ ही जनभाषा के माध्यम से शास्त्रीय वैष्णव विचारों को सामान्य जनजीवन से जोड़ती है (Lorenzen, 1995; Hawley, 2005)। रामानंदी साधु काशी में केवल मठों और अखाड़ों की संस्थागत सीमाओं तक नहीं सिमटे हैं बल्कि उनकी उपस्थिति घाटों, गलियों, अनुष्ठानों तथा दैनिक धार्मिक व्यवहारों में बिखरी हुई है जिससे लोकधर्म एवं संस्थागत धर्म के बीच एक गतिशील सेतु निर्मित होता है यह बात काशी पर आधारित समकालीन समाजशास्त्रीय अध्ययनों में स्पष्ट रूप से सामने आती है (Mitra, 2025a; 2025b) किंतु बीते कुछ दशकों में काशी के तीव्र शहरीकरण, धार्मिक पर्यटन के विस्तार और बाजार आधारित धार्मिक अर्थव्यवस्था के उभार ने इस तपस्वी जीवन प्रणाली के भीतर नए प्रकार के तनाव एवं पुनर्संयोजन उत्पन्न किए हैं; आज तपस्या और त्याग के आदर्श को दान, सेवा, तीर्थ–प्रबंधन और दृश्यात्मक धार्मिकता के साथ संतुलित करना पड़ रहा है जिससे संन्यास की पारंपरिक नैतिक संरचना नए प्रश्नों के घेरे में आ गई है (Mitra, 2025c; Anderson, 1983)। इन परिवर्तनों के बीच यह प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि क्या रामानंदी वैष्णव परंपरा अपनी लोक धार्मिक आत्मा तथा समावेशी नैतिकता को बनाए रखते हुए शहरी–आर्थिक बदलावों के साथ अनुकूलन कर पा रही है या फिर वह धीरे–धीरे धार्मिक पेशेवरकरण एवं बाज़ारीकरण की दिशा में अग्रसर हो रही है। इस पृष्ठभूमि में प्रस्तुत लेख का उद्देश्य काशी में रामानंदी वैष्णव साधुओं की जीवन–प्रणाली, धार्मिक आचरण और सामाजिक भूमिका को समझना है साथ ही यह विश्लेषण करना है कि सांस्कृतिक स्मृति, तपस्वी नैतिकता तथा समकालीन धार्मिक अर्थव्यवस्था के बीच किस प्रकार का संवाद, समन्वय एवं तनाव निर्मित हो रहा है। प्रस्तुत लेख हेतु प्रमुख शोध–प्रश्न यह रहे हैं कि शहरी काशी में संन्यास की अवधारणा कैसे पुनर्परिभाषित हो रही है, रामानंदी परंपरा लोकधर्म से संस्थागत संरचना तक किस प्रकार की यात्रा कर रही है एवं इस पूरी प्रक्रिया में घाटों, अनुष्ठानों तथा स्मृति स्थलों की क्या भूमिका है। पद्धतिगत रूप से यह लेख द्वितीयक साहित्य के आलोचनात्मक विश्लेषण के साथ–साथ ही काशी पर केंद्रित क्षेत्रीय समाजशास्त्रीय अंतर्दृष्टियों पर भी आधारित है जिससे कि परंपरा – परिवर्तन के इस जटिल अंतर्संबंध को एक मानवीय, सजीव और संदर्भ–संवेदी दृष्टि से समझा जा सके (Mitra, 2025a; Weber, 1978)।

सैद्धांतिक ढाँचा

संन्यास, परंपरा तथा सांस्कृतिक स्मृति को एक संयुक्त सैद्धांतिक ढाँचे के रूप में समझना आवश्यक है क्योंकि काशी जैसे धार्मिक नगर में ये तीनों तत्व अलग–अलग नहीं अपितु आपस में गहरे रूप से अंतर्संबद्ध दिखाई देते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से संन्यास को सामाजिक जीवन से पलायन अथवा हाशिए पर जाने की प्रक्रिया मानना अपर्याप्त है; मैक्स वेबर के अनुसार तपस्वी जीवन शैली करिश्माई सत्ता का निर्माण करती है जो औपचारिक संस्थानों से बाहर रहते हुए भी नैतिक वैधता एवं सामाजिक स्वीकृति अर्जित करती है (Weber, 1978)। भारतीय धार्मिक संदर्भ में यही करिश्माई सत्ता समय के साथ परंपरा से जुड़कर पारंपरिक धार्मिक अधिकार का रूप ले लेती है, जहाँ संन्यासी न केवल आध्यात्मिक साधक होते हैं अपितु समुदाय हेतु नैतिक आदर्श एवं

सांस्कृतिक मार्गदर्शक भी बनते हैं। बर्गहार्ट (1983) ने हिंदू संन्यास परंपरा का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया है कि त्याग, अनुशासन, सांसारिक दूरी आदि साधुओं को एक विशिष्ट नैतिक ऊँचाई प्रदान करती है जो उन्हें सामाजिक प्रभाव तथा धार्मिक प्रामाणिकता प्रदान करती है। काशी के समकालीन संदर्भ में यह नैतिक सत्ता समाप्त नहीं हुई है अपितु शहरीकरण, धार्मिक पर्यटन एवं आर्थिक दबावों के बीच नए रूपों में पुनर्संरचित हो रही है, जैसा कि हाल के क्षेत्र आधारित समाजशास्त्रीय अध्ययनों में रेखांकित किया गया है (Mitra, 2025c)। इसी प्रकार परंपरा–आधुनिकता के संबंध को अब एक सरल द्वंद्व के रूप में नहीं देखा जाता; एंथनी गिडेन्स के अनुसार आधुनिकता परंपरा का विनाश करने की बजाए उसे नए संस्थागत–प्रतीकात्मक संदर्भों में पुनर्गठित करती है (Giddens, 1991)। शहरी परिवेश में धर्म इसी पुनर्संरचना की प्रक्रिया से गुजरता है जहाँ वह निजी आस्था से आगे बढ़कर सार्वजनिक जीवन, मीडिया, पर्यटन और धार्मिक अर्थव्यवस्था से जुड़ जाता है जिससे धार्मिक आचरण अधिक दृश्यात्मक होने के साथ ही संगठित भी हो जाता है (Anderson, 1983; Mitra, 2025d)। इस पूरे परिवर्तन को समझने में सांस्कृतिक स्मृति की अवधारणा केंद्रीय भूमिका निभाती है क्योंकि धर्म केवल वर्तमान आस्था नहीं बल्कि अतीत की निरंतर पुनर्व्याख्या भी है। अस्मान (2011) के अनुसार सांस्कृतिक स्मृति अनुष्ठानों, प्रतीकों और स्थानों के माध्यम से सामूहिक पहचान तथा ऐतिहासिक निरंतरता का निर्माण करती है, जबकि नोरा (1989) इसे 'स्मृति–स्थल' (lieux de mémoire) की संकल्पना से जोड़ते हैं जहाँ इतिहास और स्मृति एक–दूसरे में अंतर्ग्रथित हो जाते हैं। काशी के घाट, मठ और अखाड़े ऐसे ही स्मृति–स्थल हैं जहाँ अनुष्ठानिक जीवन के माध्यम से अतीत निरंतर वर्तमान में सक्रिय रहता है। रामानंदी वैष्णव परंपरा की उपस्थिति इन स्थलों पर न केवल धार्मिक अभ्यास के रूप में अपितु सांस्कृतिक स्मृति के संवाहक के रूप में भी देखी जा सकती है जो संन्यास, परंपरा एवं शहरी आधुनिकता के बीच एक जटिल किंतु अर्थपूर्ण संवाद निर्मित करती है (Mitra, 2025e; Assmann, 2011)।

रामानंदी वैष्णव परंपरा: ऐतिहासिक–वैचारिक नींव

रामानंदी वैष्णव परंपरा की ऐतिहासिक–वैचारिक नींव उत्तर भारतीय भक्ति आंदोलन की उसी व्यापक सामाजिक–धार्मिक प्रक्रिया से जुड़ी हुई है जिसने मध्यकालीन भारत में धर्म को शास्त्रीय अभिजात दायरों से बाहर निकालकर लोकजीवन की नैतिक चेतना का हिस्सा बनाया। इस परंपरा के मूल में आचार्य रामानंद का व्यक्तित्व और विचारधारा स्थित है जिन्हें प्रायः उत्तर भारत में निर्गुण–सगुण भक्ति के सेतु के रूप में देखा जाता है; रामानंद ने वैष्णव भक्ति को संस्कृतनिष्ठ कर्मकांड से मुक्त करते हुए जनभाषा, व्यक्तिगत अनुभूति एवं नैतिक समता पर आधारित किया जिससे भक्ति केवल आध्यात्मिक साधना न रहकर सामाजिक समावेशन का माध्यम बन सकी (Lorenzen, 1995)। रामानंद की वैचारिक विरासत में भक्ति का अर्थ ईश्वर–प्रेम से भी आगे जाति, वर्ण तथा सामाजिक श्रेणियों के पार एक ऐसी नैतिक दृष्टि है जो व्यक्ति को उसकी आंतरिक श्रद्धा–आचरण के आधार पर मूल्यांकित करती है। यही कारण है कि रामानंदी परंपरा में परम्परागत रूप से शूद्र, अतिशूद्र कहे जाने वाले तथा हाशिए पर स्थित समुदायों की भागीदारी अपेक्षाकृत अधिक दिखाई देती है जो इसे उत्तर भारतीय भक्ति आंदोलन की सबसे समावेशी धाराओं में स्थान दिलाती है। वैष्णव भक्ति में लोकभाषा की भूमिका इस परंपरा का केंद्रीय तत्व है; अवधी और ब्रज जैसी भाषाओं में रचित पदों–उपदेशों ने धार्मिक विचारों को सामान्य जन तक पहुँचाया तथा भक्ति को श्रवण, स्मरण एवं अनुभव की जीवंत प्रक्रिया बना दिया (Hawley, 2005)। हिंदी साहित्य के इतिहासकार रामचंद्र शुक्ल ने भक्ति काव्य की इसी विशेषता को रेखांकित करते हुए बताया है कि भक्ति साहित्य ने नैतिक संवेदना, सामाजिक चेतना और लोकानुभव को एक साझा सांस्कृतिक धरातल प्रदान किया जहाँ धर्म तथा जीवन एक–दूसरे से अलग नहीं रहते (Shukla, 1940)। रामानंदी परंपरा इसी लोक–नैतिकता को वैष्णव भक्ति के मूल में रखती है जहाँ मर्यादा–करुणा–सेवा को धार्मिक जीवन की अनिवार्य शर्त माना जाता है। काशी में इस परंपरा की उपस्थिति ऐतिहासिक रूप से अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही है क्योंकि काशी न केवल एक तीर्थ–नगर है अपितु वैचारिक, सांस्कृतिक तथा संस्थागत प्रयोगों का भी केंद्र रही है। यहाँ रामानंदी संप्रदाय मठों, अखाड़ों और आश्रमों के रूप में संस्थागत संरचनाओं का निर्माण करता है, जो साधुओं के प्रशिक्षण, अनुशासन और धार्मिक उत्तराधिकार को सुनिश्चित करते हैं साथ ही लोकधर्म से उनके निरंतर संपर्क को भी बनाए रखते हैं। काशी के घाट, मंदिर और सार्वजनिक अनुष्ठानिक स्थल इस परंपरा के विस्तार के ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ संस्थागत धर्म और लोकभक्ति के बीच निरंतर संवाद दिखाई देता है। समकालीन समाजशास्त्रीय अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि काशी में रामानंदी वैष्णव परंपरा एक ऐतिहासिक अवशेष मात्र नहीं अपितु एक जीवंत धार्मिक–सांस्कृतिक व्यवस्था है जो आधुनिक शहरी परिवेश, धार्मिक पर्यटन के साथ ही बदलती अर्थव्यवस्था के बीच अपनी वैचारिक पहचान को पुनर्संयोजित कर रही है (Mitra, 2025f)। इस प्रकार रामानंदी परंपरा की ऐतिहासिक जड़ें भक्ति आंदोलन की समावेशी नैतिकता में निहित हैं, इसकी वैचारिक संरचना लोकभाषा और सामाजिक समता से पोषित होती है और काशी में इसकी संस्थागत उपस्थिति इसे परंपरा–परिवर्तन के बीच एक गतिशील धार्मिक धारा के रूप में स्थापित करती है जो उत्तर भारतीय धार्मिक इतिहास को समझने हेतु अनिवार्य है।

दैनिक जीवन, अनुशासन तथा लोक–संपर्क

काशी के रामानंदी साधुओं का दैनिक जीवन तपस्या, अनुशासन तथा लोक संपर्क के ऐसे सूक्ष्म संतुलन पर टिका होता है जहाँ संन्यास व्यक्तिगत मोक्ष–साधना भर नहीं रह जाता, सामाजिक नैतिकता एवं धार्मिक अधिकार का व्यावहारिक अभ्यास बन जाता है; भोर की आराधना, जप–स्मरण, स्वाध्याय, साधना आदि के साथ दिन की शुरुआत, फिर घाटों, मंदिरों, आश्रमों आदि में अनुष्ठानिक सहभागिता आदि ये सब मिलकर एक ऐसी दिनचर्या रचते हैं जो साधु को लोकधर्म के प्रवाह से जोड़े रखती है और इस सबके साथ ही उसे संस्थागत अनुशासन के भीतर भी स्थिर करती है (Mitra, 2025a)। गुरु–शिष्य परंपरा इस जीवन–प्रणाली की केंद्रीय धुरी है जिसके माध्यम से वैचारिक उत्तराधिकार, नैतिक अनुशासन एवं सामाजिक–धार्मिक व्यवहारिक ज्ञान पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होता है; गुरु केवल आध्यात्मिक शिक्षक नहीं अपितु आचरण का जीवंत प्रतिमान होता है तथा शिष्य का प्रशिक्षण तप, संयम, भिक्षा, सेवा के कठोर अभ्यासों से होकर गुजरता है। तप का आशय यहाँ शारीरिक कष्ट नहीं बल्कि इच्छाओं का नियमन, समय–पालन एवं साधना के प्रति निरंतर प्रतिबद्धता है जबकि भिक्षा केवल आजीविका का साधन नहीं विनम्रता, निर्लिप्तता और लोक–संबंध का नैतिक अभ्यास मानी जाती है ऐसा अभ्यास जो साधु को समाज से काटता नहीं, उसे समाज के नैतिक विवेक से जोड़ता है (Burghart, 1983)। इसी संदर्भ में लुई ड्यूमों का जाति और नैतिक श्रेणियों पर किया गया विश्लेषण उपयोगी हो जाता है क्योंकि संन्यासी जीवन में सामाजिक पदानुक्रम से दूरी बनाते हुए भी एक अलग प्रकार की नैतिक उच्चता का निर्माण होता है जो प्रतीकात्मक रूप से समाज में मान्य होती है (Dumont, 1970)। काशी के रामानंदी साधुओं के बीच यह नैतिक अधिकार अक्सर लोक स्वीकृति से पुष्ट होता है यथा घाटों पर प्रवचन, अनुष्ठानों में मार्गदर्शन और संकट के क्षणों में सांत्वना देना उनकी ऐसी भूमिकाएँ हैं जिनसे लोकधर्म

और संन्यास का रिश्ता सुदृढ़ होता है किंतु आधुनिक काशी में यह जीवन–प्रणाली स्थिर नहीं रही है; धार्मिक पर्यटन, दान की अर्थव्यवस्था और शहरी दबावों ने साधुओं की दिनचर्या, संसाधनों तथा नैतिक दावों को नए सिरे से परिभाषित किया है जहाँ कभी–कभी तप और त्याग को प्रबंधन, सेवा और दृश्यात्मक धार्मिकता के साथ समायोजित करना पड़ता है (Mitra, 2025c)। इस प्रक्रिया में लोकधर्म और संस्थागत धर्म के बीच संतुलन साधना एक सतत चुनौती बन जाती है क्योंकि एक तरफ लोक की अपेक्षाएँ हैं, जो साधु को सुलभ, करुणामय और मार्गदर्शक देखना चाहती हैं तो दूसरी तरफ संस्थागत अनुशासन है जो नियम, पदानुक्रम एवं धार्मिक शुचिता पर जोर देता है। रामानंदी परंपरा इस संतुलन को बनाए रखने हेतु लचीले नैतिक ढाँचों का सहारा लेती है जहाँ लोकभाषा में संवाद, अनौपचारिक उपदेश और दैनिक आचरण के माध्यम से धार्मिक अधिकार को वैध ठहराया जाता है, न कि केवल औपचारिक पदों से। समकालीन समाजशास्त्रीय अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि काशी के रामानंदी साधु आज भी लोकधर्म तथा संस्थागत धर्म के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं क्योंकि वे न तो पूर्णतः अलग–थलग तपस्वी हैं और न ही केवल धार्मिक पेशेवर; बल्कि वे एक ऐसी नैतिक उपस्थिति का प्रतिनिधित्व करते हैं जो परंपरा की निरंतरता को बनाए रखते हुए परिवर्तन के दबावों से संवाद करती है (Mitra, 2025a; Dumont, 1970)। इस प्रकार काशी में संन्यासी जीवन का रोज़मर्रा का अभ्यास, गुरु–शिष्य परंपरा की अनुशासनात्मक संरचना एवं लोक–संस्थागत संतुलन मिलकर एक ऐसी धार्मिक–सांस्कृतिक व्यवस्था का निर्माण करते हैं, जहाँ नैतिकता, अधिकार और जीवन–प्रणाली निरंतर पुनर्संयोजन की प्रक्रिया में रहते हैं और यही गतिशीलता रामानंदी साधुओं को काशी के धार्मिक परिदृश्य में आज भी प्रासंगिक बनाती है।

लोकधर्म से संस्थागत उपस्थिति

भारतीय धार्मिक परिदृश्य में लोकधर्म तथा संस्थागत धर्म के बीच का संबंध सदैव स्थिर नहीं रहा है बल्कि यह निरंतर संवाद, तनाव एवं रूपांतरण की प्रक्रिया से गुज़रा है और काशी में रामानंदी वैष्णव परंपरा इस प्रक्रिया का एक सजीव उदाहरण प्रस्तुत करती है। लोक परंपराएँ जिन्हें रॉबर्ट रेडफील्ड ने 'लघु परंपराएँ' (little traditions) कहा स्थानीय आस्थाओं, अनुष्ठानों, मौखिक परंपराओं और दैनिक धार्मिक व्यवहारों में निहित होती हैं जहाँ धर्म किसी केंद्रीकृत सिद्धांत की बजाय जीवन–पद्धति के रूप में मौजूद रहता है (Redfield, 1956)। रामानंदी परंपरा की जड़ें इसी लोकधार्मिक संसार में दिखाई देती हैं,जहाँ भक्ति कर्मकांड की जटिलताओं से अधिक भाव, नैतिकता और सुलभता पर आधारित है। काशी के घाटों, गलियों और आश्रमों में रामानंदी साधुओं की उपस्थिति लोकभाषा में संवाद, सहज उपदेश एवं दैनिक संपर्क के माध्यम से लोकधर्म को सुदृढ़ करती है जिससे यह परंपरा सामाजिक जीवन का अंग बनी रहती है (Mitra, 2025g)। इसी लोकधार्मिक धरातल पर जाति तथा सामाजिक समावेशन का प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि भारतीय समाज में धर्म प्रायः सामाजिक पदानुक्रम से गहराई से जुड़ा रहा है। लुई ड्यूमों (1970) के अनुसार जाति व्यवस्था सामाजिक संरचना मात्र नहीं अपितु नैतिक श्रेणियों का भी निर्माण करती है जहाँ पवित्रता–अपवित्रता के विचार धार्मिक जीवन को आकार देते हैं; इसके विपरीत भक्ति आंदोलन विशेषतः रामानंदी धारा ने इस पदानुक्रम को नैतिक स्तर पर चुनौती दी क्योंकि यहाँ भक्ति का मूल्य जाति अथवा जन्म से नहीं, श्रद्धा एवं आचरण से निर्धारित होता है। इसी कारण रामानंदी परंपरा में हाशिए पर स्थित जातियों और समुदायों की भागीदारी अपेक्षाकृत अधिक दिखाई देती है जिससे भक्ति सामाजिक समावेशन का एक माध्यम बनती है। क्रिस्टोफ़ जाफ़रलो (2003) ने उत्तर भारत में जाति और राजनीति के संबंधों का विश्लेषण करते हुए यह दिखाया है कि धार्मिक–सांस्कृतिक पहचानें कैसे सामाजिक गतिशीलता तथा आत्मसम्मान का स्रोत बनती हैं और इसी संदर्भ में भक्ति परंपराएँ लोकधर्म के स्तर पर सामाजिक सशक्तिकरण की भूमिका निभाती हैं किंतु लोकधर्म की यह प्रवाहशीलता समय के साथ संस्थागत रूप ग्रहण करने लगती है, जब परंपराएँ मठों, अखाड़ों और संगठित धार्मिक संरचनाओं में ढलने लगती हैं। काशी में रामानंदी संप्रदाय का संस्थानीकरण इसी प्रक्रिया का परिणाम है जहाँ लोकधर्म की नैतिकता और समावेशन को संरक्षित करने के साथ–साथ अनुशासन, उत्तराधिकार और संगठनात्मक स्थिरता की आवश्यकता भी सामने आती है। समकालीन समाजशास्त्रीय अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि यह संस्थानीकरण लोकधर्म का अंत नहीं करता अपितु उसे नए ढाँचों में समाहित करता है, हालाँकि इस प्रक्रिया में कुछ तनाव भी उत्पन्न होते हैं यथा अनौपचारिक आस्था एवं औपचारिक नियमों के बीच संतुलन साधना (Mitra, 2025g; Dumont, 1970)। काशी में रामानंदी परंपरा इस संतुलन को बनाए रखने का प्रयत्न करती है जहाँ लोक परंपराओं की सजीवता संस्थागत ढाँचों के भीतर भी बनी रहती है और साधु लोकधर्म तथा संस्थागत धर्म दोनों के मध्य मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं। इस प्रकार लोक परंपराओं से जन्मी भक्ति, जाति–आधारित सीमाओं को लांघते हुए सामाजिक समावेशन का मार्ग प्रशस्त करती है और धीरे–धीरे संस्थागत उपस्थिति प्राप्त कर एक ऐसी धार्मिक व्यवस्था का निर्माण करती है जो परंपरा और परिवर्तन के बीच निरंतर गतिशील रहती है।

समकालीन काशी में शहरी परिवर्तन तथा धार्मिक अर्थव्यवस्था

समकालीन काशी में शहरी परिवर्तन तथा धार्मिक अर्थव्यवस्था का उभार एक गहन सामाजिक प्रक्रिया के रूप में सामने आता है जहाँ तीर्थाटन, दान और पर्यटन केवल धार्मिक गतिविधियाँ नहीं रह जातीं अपितु साधुओं तथा धार्मिक संस्थानों की आजीविका, प्रतिष्ठा और नैतिक दावों को भी पुनर्परिभाषित करती हैं। ऐतिहासिक रूप से काशी में साधुओं की अर्थव्यवस्था भिक्षा, आश्रय एवं सीमित दान पर आधारित रही है जिसे त्याग और निर्लिप्तता के नैतिक आदर्शों से जोड़ा जाता था; किंतु हाल के दशकों में तीर्थ–पर्यटन के विस्तार, धार्मिक आयोजनों के पैमाने और शहरी अवसंरचना के विकास ने इस व्यवस्था को एक संगठित धार्मिक अर्थव्यवस्था में रूपांतरित कर दिया है (Mitra, 2025b)। आज साधु आध्यात्मिक मार्गदर्शक भर होने के बजाए एक ऐसे धार्मिक परिदृश्य के सक्रिय घटक हैं जहाँ दान, सेवा, अनुष्ठान और पर्यटन आपस में जुड़कर आर्थिक निर्भरता के नए रूप निर्मित करते हैं। इस संदर्भ में धार्मिक पर्यटन को समझने हेतु एरिक कोहेन (1988) की दृष्टि उपयोगी हो जाती है जो बताते हैं कि तीर्थाटन आधुनिक समाज में एक साथ आध्यात्मिक अनुभव और उपभोक्ता गतिविधि बन जाता है; काशी में यह द्वैत और भी स्पष्ट है, जहाँ श्रद्धालु पवित्रता की खोज में आते हैं जबकि शहर की धार्मिक अर्थव्यवस्था उनकी उपस्थिति को संसाधन में बदल देती है। ऐसे में साधुओं के सामने सबसे बड़ा प्रश्न आध्यात्मिक प्रामाणिकता का होता है कि क्या बाजार और पर्यटन के साथ जुड़ाव संन्यासी नैतिकता को कमजोर करता है, अथवा क्या यह परंपरा के जीवित रहने का एक व्यावहारिक साधन बन गया है। समकालीन समाजशास्त्रीय अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि अनेक रामानंदी साधु इस तनाव को नैतिक विवेक और व्यावहारिक अनुकूलन के माध्यम से साधने का प्रयास करते हैं जहाँ वे दान तथा पर्यटन को स्वीकार तो करते हैं किन्तु अपने तपस्वी आचरण और प्रतीकात्मक दूरी के माध्यम से आध्यात्मिक वैधता बनाए रखने का भी प्रयास करते हैं (Mitra, 2025h)। शहरी परिवर्तन का दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष 'नव–हिंदुत्व' या 'सनातन' विमर्श के रूप में उभरता है जो काशी की

सार्वजनिक धार्मिक पहचान को नए सिरे से गढ़ रहा है। समकालीन भारत में 'सनातन धर्म' का विमर्श केवल धार्मिक आस्था तक सीमित नहीं बल्कि सांस्कृतिक गौरव, राजनीतिक पहचान और ऐतिहासिक पुनर्कथन से भी जुड़ा हुआ है और काशी इस विमर्श का एक प्रमुख प्रतीक बनकर उभरी है (Mitra, 2025i)। मीडिया, धार्मिक आयोजनों और राजनीतिक वक्तव्यों के माध्यम से काशी को एक ऐसे शहरी धार्मिक केंद्र के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जहाँ परंपरा–आधुनिकता का संगम दिखाई देता है किंतु यह प्रस्तुति अक्सर चयनात्मक स्मृति और प्रतीकात्मक राजनीति पर आधारित होती है। बेनेडिक्ट एंडरसन (1983) की 'कल्पित समुदाय' की अवधारणा यहाँ प्रासंगिक हो जाती है क्योंकि 'सनातन' विमर्श के माध्यम से एक ऐसी सांस्कृतिक–धार्मिक समुदाय की कल्पना रची जाती है जो साझा प्रतीकों, उत्सवों और ऐतिहासिक आख्यानों से जुड़ी होती है। इस प्रक्रिया में साधु एवं धार्मिक संस्थान सार्वजनिक धर्म के प्रतिनिधि बन जाते हैं जिनकी छवि मीडिया और राजनीति के माध्यम से व्यापक समाज तक पहुँचती है। क्रिस्टोफ़ जाफ़रलो (2003) ने यह दिखाया है कि धर्म–राजनीति का यह अंतर्संबंध कैसे सामाजिक पहचान और सत्ता–संरचनाओं को प्रभावित करता है और काशी के संदर्भ में यह प्रभाव धार्मिक अर्थव्यवस्था के साथ मिलकर और भी जटिल हो जाता है। परिणामतः समकालीन काशी में धार्मिक जीवन केवल व्यक्तिगत आस्था का क्षेत्र नहीं रह जाता अपितु शहरी विकास, पर्यटन, मीडिया और राजनीति के संगम से निर्मित एक सार्वजनिक परिघटना बन जाता है। इस पूरे परिदृश्य में रामानंदी वैष्णव साधु एक ऐसे मध्यस्थ के रूप में उभरते हैं जिन्हें आध्यात्मिक प्रामाणिकता और बाज़ार–आधारित धार्मिक अर्थव्यवस्था के बीच संतुलन साधना पड़ता है और यही संतुलन समकालीन काशी में धर्म, शहर और अर्थव्यवस्था के बदलते संबंधों को समझने की कुंजी प्रदान करता है।

काशी के घाट, अनुष्ठान, स्मृति तथा सांस्कृतिक निरंतरता

काशी के घाट भौगोलिक या स्थापत्य संरचनाएँ मात्र नहीं हैं, वे अनुष्ठान, स्मृति और सांस्कृतिक निरंतरता के ऐसे जीवंत पाठ हैं जहाँ धर्म का अनुभव देखा, जिया और प्रदर्शित किया जाता है। प्रतिदिन होने वाले स्नान, संध्या आरती, श्राद्ध, दान और मृत्यु–संबंधी संस्कार घाटों को एक ऐसे अनुष्ठानिक मंच में बदल देते हैं जहाँ व्यक्तिगत आस्था सामूहिक अनुभव का रूप ले लेती है और अतीत निरंतर वर्तमान में सक्रिय बना रहता है। सांस्कृतिक स्मृति के सिद्धांतकार यान अस्मान के अनुसार स्मृति केवल अतीत का संकलन नहीं अपितु एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें समाज प्रतीकों, अनुष्ठानों के साथ–साथ स्थानों के माध्यम से अपनी पहचान को पुनः निर्मित करता है (Assmann, 2011) और काशी के घाट इस प्रक्रिया के सबसे सशक्त उदाहरणों में से हैं। पियरे नोरा की 'स्मृति–स्थल' (lieux de mémoire) की अवधारणा यहाँ विशेष रूप से प्रासंगिक हो जाती है क्योंकि घाट ऐसे स्थल हैं जहाँ इतिहास, स्मृति और सामूहिक भावना एक–दूसरे में अंतर्ग्रथित हो जाते हैं और जहाँ धार्मिक परंपराएँ केवल याद नहीं की जातीं बल्कि निरंतर प्रदर्शित भी की जाती हैं (Nora, 1989)। घाटों पर होने वाले अनुष्ठान एक प्रकार का सार्वजनिक प्रदर्शन (performance) हैं जिनके माध्यम से धार्मिक निरंतरता को दृश्य एवं अनुभवात्मक रूप दिया जाता है; यह प्रदर्शन श्रद्धालुओं, साधुओं और दर्शकों तीनों को सांस्कृतिक स्मृति के सहभागी बना देता है। इस अनुष्ठानिक परिदृश्य में रामानंदी वैष्णव परंपरा की दृश्य उपस्थिति विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि उनके साधु घाटों पर प्रवचन, भजन, अनौपचारिक उपदेश तथा दैनिक साधना के माध्यम से लोकधर्म एवं वैष्णव भक्ति के बीच एक सजीव संबंध स्थापित करते हैं। समकालीन समाजशास्त्रीय अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि रामानंदी साधु घाटों को केवल धार्मिक स्थल नहीं, नैतिक संवाद और सांस्कृतिक मध्यस्थता के क्षेत्र के रूप में देखते हैं जहाँ वे परंपरा को जीवित रखते हुए उसे बदलते शहरी संदर्भों से जोड़ते हैं (Mitra, 2025e)। घाटों पर उनकी उपस्थिति साधारण वस्त्र, भिक्षा, जप और संवाद एक ऐसी दृश्य भाषा रचती है जो तपस्वी नैतिकता एवं लोकसुलभता दोनों को एक साथ संप्रेषित करती है। यही दृश्यता सांस्कृतिक स्मृति को केवल अमूर्त विचार न रहने देकर मूर्त अनुभव में बदल देती है। साथ ही घाटों का यह अनुष्ठानिक जीवन आधुनिक मीडिया और पर्यटन के माध्यम से और भी व्यापक दर्शक वर्ग तक पहुँचता है जिससे स्मृति का यह प्रदर्शन स्थानीय से वैश्विक स्तर तक फैल जाता है किंतु इस विस्तार के बावजूद भी घाटों की मूल भूमिका बनी रहती है वे ऐसे स्थान हैं जहाँ धर्म, स्मृति और समय एक साथ बहते हैं, ठीक गंगा की तरह। इस संदर्भ में रामानंदी परंपरा घाटों पर उपस्थित रहकर केवल अपने धार्मिक अस्तित्व को नहीं दर्शाती अपितु काशी की सांस्कृतिक स्मृति के संरक्षण और पुनरुत्पादन में सक्रिय भूमिका निभाती है। इस प्रकार घाट, अनुष्ठान और स्मृति का यह त्रिकोण काशी को एक ऐसे धार्मिक नगर के रूप में स्थापित करता है जहाँ परंपरा केवल अतीत की विरासत नहीं, निरंतर घटित होने वाली सामाजिक–सांस्कृतिक प्रक्रिया है।

निरंतरता एवं परिवर्तन: रामानंदी वैष्णव परंपरा में आंतरिक तनाव

रामानंदी वैष्णव परंपरा की समकालीन स्थिति को समझने हेतु निरंतरता और परिवर्तन के बीच उत्पन्न होने वाले आंतरिक तनावों का विश्लेषण अत्यंत आवश्यक है क्योंकि यही तनाव इस परंपरा की जीवंतता तथा अनुकूलन क्षमता को भी उजागर करते हैं। ऐतिहासिक रूप से रामानंदी साधुओं की पहचान तपस्या, त्याग और नैतिक अनुशासन से जुड़ी रही है जहाँ संन्यास का अर्थ सांसारिक लाभ से दूरी तथा आध्यात्मिक प्रामाणिकता की खोज था; किंतु समकालीन काशी में धार्मिक पर्यटन, दान–आधारित अर्थव्यवस्था और सार्वजनिक धार्मिकता के विस्तार ने साधुओं को एक ऐसे परिदृश्य में ला खड़ा किया है जहाँ तपस्वी जीवन और पेशेवर धार्मिक भूमिकाओं के बीच संतुलन साधना एक चुनौती बन गया है (Mitra, 2025a)। आज अनेक रामानंदी साधु अनुष्ठानों के संचालन, प्रवचनों, धार्मिक आयोजनों और तीर्थ–सेवाओं से जुड़े हुए हैं जिससे संन्यास की पारंपरिक निर्लिप्तता एवं आधुनिक धार्मिक पेशेवरकरण के बीच एक स्पष्ट तनाव उत्पन्न होता है। यह स्थिति लोकधर्म तथा धार्मिक संस्थानों के संबंध को भी पुनर्परिभाषित करती है क्योंकि जहाँ लोकधर्म सहज, अनौपचारिक और अनुभव–आधारित होता है वहीं संस्थागत धर्म नियमों, पदानुक्रम और प्रशासनिक संरचनाओं पर आधारित होता है; रामानंदी परंपरा ऐतिहासिक रूप से लोकधर्म के निकट रही है लेकिन संस्थागत स्थिरता और संसाधनों की आवश्यकता ने इसे मठों, अखाड़ों और संगठित ढाँचों की ओर भी उन्मुख किया है (Mitra, 2025b)। इस प्रक्रिया में नैतिक संकट उभरता है कि क्या संस्थागत विस्तार लोकभक्ति की आत्मा को कमजोर करता है अथवा क्या यह परंपरा के अस्तित्व हेतु अनिवार्य अनुकूलन है। ज़िगमंट बाउमन (2000) की 'तरल आधुनिकता' की अवधारणा इस संदर्भ में उपयोगी हो जाती है क्योंकि वह दिखाती है कि समकालीन समाज में स्थायी नैतिक ढाँचे अस्थिर हो रहे हैं और धार्मिक परंपराएँ भी इस तरलता से अछूती नहीं हैं। रामानंदी साधु इस तरल सामाजिक संदर्भ में अपने नैतिक दावों को बनाए रखने हेतु प्रतीकात्मक तप, दृश्यात्मक सादगी और लोकसंपर्क जैसे उपाय अपनाते हैं जिससे वे परिवर्तन को स्वीकार करते हुए भी परंपरा की निरंतरता का दावा कर सकें (Mitra, 2025a)। इस प्रकार रामानंदी परंपरा के भीतर तपस्या बनाम पेशेवर धार्मिकता, लोकधर्म बनाम संस्थागत संरचना और नैतिक संकट बनाम अनुकूलन के बीच चलने वाला यह द्वंद्व किसी विघटन का संकेत

नहीं बल्कि उस गतिशील प्रक्रिया का प्रमाण है जिसके माध्यम से परंपरा स्वयं को समय के साथ पुनर्संयोजित करती रहती है।

निष्कर्ष

इस लेख से यह स्पष्ट होता है कि समकालीन काशी में संन्यास, विशेषकर रामानंदी वैष्णव परंपरा न तो किसी जड़ अतीत की शेषावस्था है और न ही पूरी तरह बाज़ार–तर्क में विलीन कोई धार्मिक पेशा अपितु यह एक ऐसी जीवंत सामाजिक–नैतिक व्यवस्था है जो निरंतरता एवं परिवर्तन के बीच संतुलन साधते हुए स्वयं को पुनर्संयोजित कर रही है। प्रमुख निष्कर्षों को समेकित रूप में देखें तो यह सामने आता है कि रामानंदी साधुओं का दैनिक जीवन, गुरु–शिष्य परंपरा, लोकधर्म से उनका गहरा संबंध और संस्थागत संरचनाओं के साथ उनका संवाद आदि ये सभी तत्व मिलकर संन्यास को एक सामाजिक रूप से मान्य नैतिक शक्ति के रूप में स्थापित करते हैं भले ही शहरीकरण, धार्मिक पर्यटन और आर्थिक निर्भरता ने इसकी पारंपरिक सीमाओं को चुनौती दी हो। रामानंदी परंपरा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी लचीलापन है, जहाँ लोकभक्ति, समावेशन और नैतिक अनुशासन को बनाए रखते हुए वह मठों, अखाड़ों और सार्वजनिक धार्मिक मंचों के माध्यम से संस्थागत स्थिरता भी अर्जित करती है। यह स्थिति वेबरियन अर्थों में करिश्माई और पारंपरिक धार्मिक सत्ता के सह–अस्तित्व को दर्शाती है जो आधुनिक शहरी संदर्भ में नए रूप ग्रहण कर रही है साथ ही काशी के घाटों, अनुष्ठानों और सार्वजनिक धार्मिक प्रदर्शनों के माध्यम से सांस्कृतिक स्मृति का सतत पुनरुत्पादन यह संकेत देता है कि धर्म केवल वर्तमान की प्रतिक्रिया नहीं अपितु अतीत की सक्रिय व्याख्या भी है। समाजशास्त्र, धर्म–अध्ययन एवं सांस्कृतिक अध्ययन के क्षेत्र में यह शोधालेख इस दृष्टि से योगदान देता है कि यह संन्यास को केवल आध्यात्मिक अथवा धार्मिक श्रेणी में सीमित न रखकर उसे शहरी अर्थव्यवस्था, लोकधर्म और सांस्कृतिक स्मृति के व्यापक सामाजिक संदर्भ में स्थापित करता है। भविष्य के शोध हेतु यह लेख कई दिशाएँ खोलता है यथा डिजिटल मीडिया और संन्यासी जीवन का संबंध, युवा साधुओं की बदलती आकांक्षाएँ तथा काशी जैसे धार्मिक नगरों में धर्म और शहरी शासन के अंतर्संबंध। इस प्रकार रामानंदी परंपरा के माध्यम से संन्यास का पुनर्विचार हमें यह समझने में मदद करता है कि आधुनिक शहरी धार्मिक अर्थव्यवस्था में भी परंपरा केवल जीवित ही नहीं रहती, नए अर्थों और भूमिकाओं के साथ स्वयं को पुनः परिभाषित करती है।

सन्दर्भ सूची

1. Anderson B. Imagined communities: Reflections on the origin and spread of nationalism. Verso, 1983.
2. Assmann J. Cultural memory and early civilization: Writing, remembrance. and political imagination- Cambridge University Press, 2011.
3. Bauman Z. Liquid modernity. Polity Press, 2000.
4. Burghart R. Renunciation in Hinduism. Manohar, 1983.
5. Cohen E. Authenticity and commoditization in tourism. Annals of Tourism Research,1988:15(3):371–386.
6. Dumont L. Homo hierarchicus: The caste system and its implications. University of Chicago Press, 1970.
7. Giddens A. Modernity and self&identity: Self and society in the late modern age. Stanford University Press, 1991.
8. Hawley JS. Three bhakti voices: Mirabai] Surdas, and Kabir in their time and ours. Oxford University Press, 2005.
9. Jaffrelot C. India's silent revolution: The rise of the lower castes in North India. Permanent Black, 2003.
10. Lorenzen DN. Bhakti religion in North India: Community identity and political action. State University of New York Press, 1995.
11. Mitra DP. The ascetics of Kashi: A sociological exploration. International Journal of Sociology and Humanities,2025a:7(2):257–267.
12. Mitra DP. Knowledge systems and religious asceticism: A sociological study of Vaishnav sadhus in Kashi. International Journal of Sociology and Humanities,2025b:7(1):50–54.
13. Mitra DP. Religious tourism and ascetic integrity: A sociological study of economic dependency and sacred authenticity in Varanasi. Journal of Research in Humanities and Social Science,2025c:13(7):72–80.
14. Mitra DP. Urban religion and the reconfiguration of tradition in Kashi. ResearchGate, 2025d.
15. Mitra DP. Ghats, ritual space and cultural memory in Varanasi. ResearchGate, 2025e .
16. Mitra DP. Ramanandi Vaishnav tradition in Kashi: History, ideology and institutional presence. ResearchGate, 2025f .
17. Mitra DP. Little traditions, caste and religious inclusion in the Ramanandi Vaishnav tradition of Kashi. ResearchGate, 2025g .
18. Mitra DP. Urban change, religious economy and ascetic adaptation in contemporary Kashi- ResearchGate, 2025h .
19. Mitra DP. Neo–Hinduism, Sanatan discourse and public religion in urban India: The case of Kashi. ResearchGate, 2025i.
20. Nora P. Between memory and history: Les lieux de mémoire. Representations,1989:26:7–24.
21. Redfield R. Peasant society and culture: An anthropological approach to civilization. University of Chicago Press, 1956.
22. Shukla RC. Hindi sahitya ka itihas- Nagari Pracharini Sabha, 1940.
23. Weber M. Economy and society: An outline of interpretive sociology (G. Roth – C. Wittich, Eds.). University of California Press, 1978.